RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-1, दिसम्बर 2024 जनवरी फरवरी 2025

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रास्तो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 अंक - 1 दिसम्बर-2024, जनवरी-फरवरी-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

वैदिक कृषि के उपकरण और उनकी तकनीक

सुर्मिला यादव
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

कृषि वैदिक आर्यों का प्रमुख पेशा था और उन्होंने कृषि की तकनीक में कई नए प्रयोग और आविष्कार किए। प्राचीन काल में कृषि कर्म को समाज में अत्यंत सम्मानित कार्य माना जाता था। वैदिक ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि 'उन्नत खेती मध्यम बान, निपट चाकरी भीख निदान' अर्थात् सबसे श्रेष्ठ कार्य कृषि है, व्यापार और नौकरी उसके बाद आते हैं, जबकि भीख माँगना सबसे नीच कार्य माना जाता था। इस प्रकार से समाज में कृषि का महत्त्व न केवल आर्थिक दृष्टि से, बल्कि सामाजिक और नैतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। कृषि की यह महत्ता इण्डो-आर्य तथा इण्डो-ईरानी दोनों समाजों में देखी जा सकती है। ऋग्वेद में 'कृषि', 'शस्य' और 'पय' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जबकि अवेस्ता में इन्हें 'करेश', 'हब' और 'यी' कहा गया। पंचविंश ब्राह्मण (17.1) में कृषि करने वालों को आर्य कहा गया है, जबकि अन्य कार्य करने वालों को प्रात्य अर्थात् अवैदिक कहा गया है।

कृषि का महत्त्व इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि जब राजा को राजसूर्य यज्ञ में 'राजा' घोषित किया जाता था, तो पुरोहित उसे भूमि कृषि के लिए प्रदान करने की बात कहता था ताकि राज्य में लोगों का पोषण हो सके। शतपथ ब्राह्मण (7.2.2.6) में अन्न को ही कृषि कहा गया है– 'अनं वै कृषि: '। इस प्रकार वैदिक समाज में अन्न और कृषि का आपसी संबंध गहरा था और इसे जीवन की आधारशिला माना जाता था।

वैदिक कृषि के तीन प्रमुख आधार थे—क्षेत्र अर्थात् खेत, हल और बैल। जिस भूमि पर कृषि की जाती थी उसे क्षेत्र कहा जाता था। भूमि उर्वरा और अनुर्वरा दोनों प्रकार की होती थी, जिसमें उर्वरा भूमि ही कृषि के लिए उपयुक्त मानी जाती थी। ऋग्वेद (4.57.6-7) और बाद की संहिताओं में हल के द्वारा जमीन में खींची गई लकीर को 'सीता' कहा गया। बाद में यह शब्द सम्पूर्ण जोते हुए खेत और उसकी उपज के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। पाणिनि की 'अध्यायी' से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है।

क्षेत्र अथवा खेत के अतिरिक्त कृषि कर्म में एक अन्य स्थान का भी उल्लेख मिलता है, जहाँ पकी फसल की माई को ओसाई करके अन्न और भूसे से अलग किया जाता था। इस भूमि को खल्य कहा जाता था, जिसे आज हम खलिहान के नाम से जानते हैं। इस प्रकार वैदिक काल में कृषि केवल भूमि जोतने तक सीमित नहीं थी, बल्कि इसमें फसल की कटाई, माई ओसाई, अन्न और भूसे का पृथक्करण जैसी तकनीकें भी शामिल थीं।

वैदिक काल में कृषि कर्म में प्रयोग होने वाले प्रमुख उपकरणों में हल का विशेष स्थान था। मनुस्मृति

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

और अन्य वैदिक ग्रंथों में हल को विभिन्न नामों से संदर्भित किया गया है। कटक संहिता (15/2) में इसे 'हल्य', मनुस्मृति (10.84) में 'हल', पाणिनि की अष्टाध्यायी (6.2.187) में 'सीरनाम' और वैदिक इंडेक्स (2, 231) में 'लोगल' कहा गया है। विशेषत: 'सीर' शब्द हल, उपज और भूमि तीनों के अर्थ में प्रयोग हुआ है और उत्तरी भारत में यह आज भी प्रचलित है।

कृषि उपकरण :

हल स्वयं एक जटिल उपकरण था जिसमें चार मुख्य अंग होते थे:

(1) पोत्र :- यह लकड़ी का वह भाग होता था जो हल के नीचे भूमि पर टिका रहता था। पोत्र में ऊपर की ओर एक छोटा दण्ड भी लगा होता था, जिसे मुठिया (िंदकसम) कहा जाता था।

(2) इषा :- यह लकड़ी का एक लम्बा दण्ड होता था जो पोत्र से जुड़ा रहता और आगे की ओर निकलता था।

(3) युग :- हल में आगे स्थित यह लकड़ी का अंग था, जिसे अंग्रेज़ी में 'लवाम' और स्थानीय बोलियों में 'जुआँ' या 'जोत' कहा जाता है। युग में बैल जोते जाते थे। युग को इषा में चमड़े की रस्सी से बांधा जाता था, जिसे 'योत्र' या 'नध्री' कहते थे।

(4) कुशी :- इसे 'अयोविकार' कहा गया है अर्थात् लोहे से निर्मित। अंग्रेज़ी में इसे 'प्लाऊशेयर' कहते हैं। ऋग्वेद (4.57-58) में इसे 'फल' भी कहा गया है। कुशी का एक सिरा लकड़ी के पोत्र में फंसा रहता था और दूसरा नुकीला सिरा भूमि को चीरता चला जाता था।

हल के अतिरिक्त वैदिक कालीन कृषि में अनेक अन्य उपकरणों का भी प्रयोग किया जाता था, जिनका उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है। ये उपकरण खेती के विभिन्न चरणों—भूमि की तैयारी, निराई-गुड़ाई, कटाई और मड़ाई—में अत्यंत उपयोगी थे।

खनिज या आखन :- खनिज अथवा आखन ऐसा उपकरण था जिसका उपयोग ऊँची-नीची भूमि को समतल करने या मिट्टी खोदने के लिए किया जाता था। इसका प्रयोग विशेष रूप से खेत को जोतने से पूर्व भूमि तैयार करने के लिए किया जाता था। यह उपकरण आज के फावड़े और कुदाल के समान था और इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक कृषक भूमि सुधार की तकनीकों से भली-भाँति परिचित थे।

स्तम्बघ्न अथवा क्षुरप्र :- स्तम्बघ्न अथवा क्षुरप्र का प्रयोग खेत में अनावश्यक रूप से उगे पौधों को हटाने और घास छीलने के लिए किया जाता था। ये उपकरण आज की खुरपा या खुरपी के समान थे। इससे यह संकेत मिलता है कि वैदिक काल में निराई-गुड़ाई की प्रक्रिया सुव्यवस्थित थी और फसल की रक्षा के लिए खरपतवार हटाने पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

दातृ :- दातृ अथवा सृणि वह उपकरण था जिसे आज हँसिया कहा जाता है। अंग्रेज़ी में इसे 'सिकल' कहा जाता है। दातृ का प्रयोग पकी हुई फसल की कटाई के लिए किया जाता था। इसके उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक कृषक फसल कटाई के लिए विशेष रूप से बने धारदार औजारों का प्रयोग करते थे, जिससे श्रम की बचत और कार्य की दक्षता बढ़ती थी।

शूर्प :- शूर्प या तितौ का उपयोग मड़ाई के बाद अन्न को भूसे या छिलके से अलग करने के लिए

किया जाता था। इसे आज सूप कहा जाता है। अंग्रेज़ी में इसे 'विनोइंग फैन' कहा जाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि वैदिक काल में अन्न शोधन की प्रक्रिया विकसित थी और अन्न को उपभोग योग्य बनाने के लिए अलग-अलग चरणों में कार्य किया जाता था।

व्यज :- व्यज वह उपकरण था जिसे आज की बोली में कोड़ा कहा जाता है। लकड़ी के एक छोटे दण्ड में बँधी रस्सी से बना यह उपकरण बैलों को हाँकने और उन्हें शीघ्र आगे बढ़ने के लिए प्रयोग किया जाता था। विशेष रूप से मड़ाई के समय इसकी आवश्यकता अधिक पड़ती थी, जब बैलों से अनाज की दँवाई कराई जाती थी।

इन सभी उपकरणों के साथ-साथ बैलों का कृषि कर्म में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान था। वृषभ अथवा बैल को ऊर्जा और पुरुषार्थ का प्रतीक माना जाता था। वही खेत में हल खींचने का प्रमुख साधन था। संभवत: इसी कारण प्राचीन काल से वृषभ को सम्मान की दृष्टि से देखा गया। वह प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ का लांछन बना और पशुपति शिव का वाहन माना गया। अपने परिश्रम से मनुष्य को सुखी और समृद्ध बनाने के कारण उसे 'नन्दी' कहा गया। गो-माता की पूजा की परंपरा भी संभवत: इसी कारण प्रारम्भ हुई होगी कि वह वृषभ जैसे उपयोगी पशु को जन्म देती है। वस्तुत: वैदिक कृषि व्यवस्था में बैल ऊर्जा, श्रम और उत्पादन का पर्याय थे और संपूर्ण कृषि व्यवस्था उनके बिना अधूरी मानी जाती थी।

कृषि की प्रक्रियाएँ :

वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कृषि कर्म किसी एक क्रिया तक सीमित नहीं था, बल्कि यह अनेक सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध प्रक्रियाओं का समन्वित रूप था। खेत की तैयारी से लेकर अन्न को उपयोग योग्य बनाने तक, प्रत्येक चरण के लिए अलग-अलग क्रियाओं और तकनीकों का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है।

कृषि की प्रक्रिया का पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण चरण जुताई था। शतपथ ब्राह्मण (1.6.1.3) में इस क्रिया को 'कृषन्त:' कहा गया है। जुताई करते समय कृषक हल की कुशी को भूमि पर टिकाकर मुठिया से दबाता था और बैलों को आगे बढ़ने के लिए हाँकता था। हल में लगी लोहे की नुकीली कुशी भूमि को चीरते हुए आगे बढ़ती थी, जिससे मिट्टी में गहरी लकीर बनती जाती थी। इस लकीर को प्रारम्भ में 'सीता' कहा जाता था। आज के समय में प्राय: दो बैलों से ही जुताई की जाती है, किंतु प्राचीन साहित्य में छह, आठ, बारह और यहाँ तक कि चौबीस बैलों को एक साथ जोत में लगाने के उल्लेख मिलते हैं। भूमि की कठोरता और हल के भार के अनुसार बैलों की संख्या बढ़ाई जाती थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी (5.4.58) से ज्ञात होता है कि खेत को दो या तीन बार जोता जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (2.24) में भी तीन बार जुताई का निर्देश मिलता है। बार-बार जुताई करने से भूमि भुरभुरी हो जाती थी, जिससे बीज के अंकुर को ऊपर आने में सुविधा होती थी।

जुताई के बाद अगली महत्वपूर्ण क्रिया बीज बोने की थी, जिसे वोआई कहा जाता था। जब भूमि अच्छी तरह तैयार हो जाती थी, तब हल द्वारा बनाई गई गहरी पंक्तियों में बीज बोए जाते थे। शतपथ ब्राह्मण में इस क्रिया को 'वपन्त:' और पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'वपन्' कहा गया है। पाणिनि ने यह भी उल्लेख किया है कि कभी-कभी बीजों को खेत में समान रूप से बिखेर कर भी बोया जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में बीजारोपण की एक से अधिक विधियाँ प्रचलित थीं।

फसल उग आने के बाद खेत की देखभाल की जाती थी। इस दौरान खेत में जो अवांछित पौधे उग आते थे, उन्हें उखाड़कर निकाल दिया जाता था ताकि भूमि की उर्वरा शक्ति मुख्य फसल को प्राप्त हो सके। इस प्रक्रिया को 'लुनाई' कहा जाता था। जब फसल पूरी तरह पक जाती थी, तब उसकी कटाई की जाती थी। शतपथ ब्राह्मण (1.6.1.3) में इसे 'लुनन्त:' और पाणिनि की अष्टाध्यायी (6.1.140) में 'लयन' कहा गया है। आज भी फसल कटाई की मजदूरी को 'लवनी' कहा जाना इसी परंपरा का प्रमाण है। पकी फसल को काटकर उसके गट्ठे बनाए जाते थे, जिन्हें 'पर्व' कहा जाता था। इन गट्ठों को खल्य अथवा खलिहान में एकत्र किया जाता था।

खलिहान में लाई गई फसल को पहले अच्छी तरह सुखाया जाता था। इसके बाद मड़ाई की प्रक्रिया होती थी। मड़ाई में फसल पर बैलों को चलाया जाता था, जिससे बालियाँ टूटकर अनाज के दाने अलग हो जाते थे। शतपथ ब्राह्मण (1.6.1.3) में इस क्रिया को 'मृणन्त:' कहा गया है। यह प्रक्रिया बताती है कि वैदिक काल में पशु-शक्ति का उपयोग कृषि के लगभग हर चरण में किया जाता था।

मड़ाई के बाद अंतिम चरण ओसाई का होता था। इस प्रक्रिया में शूर्प अर्थात् सूप की सहायता से अथवा हवा की दिशा का लाभ उठाकर भूसे या छिलके को उड़ाकर अन्न को अलग किया जाता था। आज भी खलिहानों में मड़ाई की गई फसल को टोकरियों में भरकर ऊपर उठाकर धीरे-धीरे नीचे गिराया जाता है, जिससे हल्का भूसा उड़ जाता है और भारी अनाज नीचे एकत्र हो जाता है। यदि हवा न चल रही हो, तो सूप से पछोरकर अन्न और भूसे को अलग किया जाता है। ओसाई की इस प्रक्रिया को प्राचीन काल में 'उत्कार' अथवा 'निकार' कहा जाता था।

उर्वरता :

वैदिक काल में कृषि को अधिक उत्पादक बनाने के लिए भूमि की उर्वरता और जल की उपलब्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। वैदिक कृषक यह भली-भाँति जानते थे कि अच्छी फसल केवल बीज और श्रम से ही नहीं, बल्कि उर्वर भूमि और पर्याप्त जल से प्राप्त होती है। इसी कारण उर्वरक और सिंचाई, दोनों को कृषि की अनिवार्य शर्त माना गया।

उर्वरक के रूप में वैदिक काल में मुख्यत: गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण (2.1.1.7) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गोबर भूमि में रस अर्थात् उर्वरा शक्ति को बढ़ाता है। इस ग्रंथ में उल्लेख मिलता है कि गोबर को एकत्र कर खाद बनानी चाहिए, क्योंकि वह पृथ्वी की उत्पादन क्षमता को समृद्ध करता है– 'तदस्या इवैनमेतत् पृथिव्यै रसेन समृद्धयन्ति तस्मात् अखुकरीषं सम्भरति पुरीष्य इति।' इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक कृषक जैविक उर्वरकों के महत्व से परिचित थे और मिट्टी की प्राकृतिक शक्ति को बनाए रखने के लिए पशुओं के गोबर का व्यवस्थित उपयोग करते थे। अथर्ववेद (3.14.3-4) में भी पशुओं के गोबर को कृषि के लिए उत्तम खाद माना गया है। यह तथ्य दर्शाता है कि वैदिक कृषि पूर्णत: प्रकृति-आधारित और पर्यावरण-संतुलन पर आधारित थी।

उर्वरता के साथ-साथ सिंचाई का भी कृषि उत्पादन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान था। भारत में प्राचीन काल से ही वर्षा के जल द्वारा सिंचाई होती आई है, किंतु वैदिक समाज यह भी जानता था कि केवल वर्षा पर निर्भर रहना जोखिमपूर्ण हो सकता है। समय पर वर्षा न होने पर फसल के नष्ट होने की आशंका रहती

थी। इसी कारण कृत्रिम सिंचाई के अनेक साधन विकसित किए गए। जल प्राप्त करने के मुख्य स्रोत कूप अर्थात् कुएँ, कुल्या अर्थात् नहरें और ह्रद अर्थात् झीलें थीं। इन जल स्रोतों से खेतों तक पानी पहुँचाने के लिए 'सूर्मि सुषिरा' अर्थात् चौड़ी नालियाँ बनाई जाती थीं।

कुओं से जल निकालने के लिए 'अश्मचक्र' का प्रयोग किया जाता था, जिसे आज स्टोन पुली या पर्शियन व्हील कहा जाता है। इसके माध्यम से 'कोष' या बकेट में जल भरकर उसे ऊपर लाया जाता था और फिर नालियों के माध्यम से खेतों तक पहुँचाया जाता था। सामान्यत: यह माना जाता है कि पर्शियन व्हील फारस से भारत आया, किंतु ऋग्वेद के दसवें मण्डल (101.5-6) में 'अश्मचक्र' का उल्लेख मिलने से यह स्पष्ट होता है कि इस तकनीक का ज्ञान भारत में अत्यंत प्राचीन काल से था। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'चतुरंग' पहले भारत से फारस गया और बाद में पुन: भारत आया, उसी प्रकार 'अश्मचक्र' भी भारत से फारस गया होगा और बाद में विदेशी तकनीक के रूप में पहचाना जाने लगा।

इस सिंचाई यंत्र का उल्लेख आगे के साहित्य में भी विभिन्न नामों से मिलता है। ईसा पूर्व चौथी शती के बौद्ध ग्रंथ 'चुल्लवग्ग' में इसे 'चक्कवट्टकम्' कहा गया है। प्रथम शती के ग्रंथ 'गाथासप्तशती' में 'रहट्टघटिअ', चौथी-पाँचवीं शती ईस्वी के 'अमरकोश' में 'घटियंत्र', 'पंचतंत्र' में 'अर्घट्ट घटिनाला', 'बृहत्कल्पभाष्य' में 'अर्घट्ट' तथा 'मृच्छकटिक' में 'कूप्यंत्र घटिकान्याय' के नाम से इसका उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी इसे सामान्य रूप से 'यंत्र' कहा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सिंचाई की यह तकनीक लंबे समय तक भारतीय कृषि व्यवस्था का अभिन्न अंग बनी रही।

वस्तुत: प्राचीन भारत ने कृषि के क्षेत्र में जो प्रगति की थी, वह तकनीकी दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थी। आज यद्यपि ट्रैक्टर, थ्रेशर जैसे आधुनिक यंत्र, पंपिंग सेट और रासायनिक खादों के कारण कृषि उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई है, फिर भी देश के अधिकांश गाँवों में आज भी कृषि कर्म के अनेक रूप वैदिक प्रणाली से मिलते-जुलते हैं। गोबर की खाद का प्रयोग, बैलों द्वारा जुताई, खलिहान में मड़ाई और प्राकृतिक जल स्रोतों पर आधारित सिंचाई—ये सभी परंपराएँ इस बात का प्रमाण हैं कि वैदिक कृषि व्यवस्था न केवल व्यावहारिक थी, बल्कि दीर्घकाल तक उपयोगी और टिकाऊ भी सिद्ध हुई।

निष्कर्षत: वैदिक वाङ्मय से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में कृषि केवल आजीविका का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की आधारशिला थी। वैदिक आर्य कृषि को सर्वोत्तम कर्म मानते थे और इसे धर्म व पुरुषार्थ से जोड़ा गया था। खेत, हल और बैल कृषि के मूल आधार थे तथा हल, खनिज, खुरपी, हँसिया, सूप जैसे विविध उपकरणों के प्रयोग से कृषि कार्य सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न किया जाता था।

जुताई, बीजारोपण, निराई-गुड़ाई, कटाई, मड़ाई और ओसाई जैसी कृषि क्रियाएँ क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक ढंग से की जाती थीं। भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था और सिंचाई हेतु कुएँ, नहरें, झीलें तथा अश्मचक्र जैसे उन्नत साधनों का उपयोग होता था। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल की कृषि प्रणाली प्रकृति-अनुकूल, तकनीकी रूप से विकसित और दीर्घकाल तक उपयोगी थी। आधुनिक साधनों के विकास के बावजूद भारतीय ग्रामीण कृषि में आज भी वैदिक कृषि परंपरा की झलक दिखाई देती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *ऋग्वेद, संपादक: पं. रामगोपाल त्रिपाठी, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, पुनर्मुद्रण संस्करण, 2012*
2. *अथर्ववेद, संपादक: पं. सत्यव्रत सामश्रमी, कोलकाता: संस्कृत पुस्तक भण्डार, 2008*
3. *शतपथ ब्राह्मण, अनुवादक: पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2010।*
4. *पंचविंश ब्राह्मण, संपादक: डॉ. काशीनाथ पाण्डेय, वाराणसी: सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 2006*
5. *मनुस्मृति, भाष्यकार: डॉ. सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2011*
6. *पाणिनि, अष्टाध्यायी, भाष्य: काशिकावृत्ति सहित, वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2014*
7. *कौटिल्य, अर्थशास्त्र, संपादक एवं अनुवादक: डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, दिल्ली: भारतीय विद्या भवन, पुनर्मुद्रण 2015*
8. *अमरकोश, टीकाकार: पं. हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी: चौखम्बा प्रकाशन, 2009*
9. *गाथासप्तशती, संपादक: डॉ. रामनाथ शर्मा, जयपुर: राजस्थान साहित्य अकादमी, 2007*
10. *पंचतंत्र, संपादक: विष्णु शर्मा, दिल्ली: राजपाल एंड सन्स, 2012*
11. *मृच्छकटिकम् (शूद्रक), अनुवादक: डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा, 2005*
12. *बृहत्कल्पभाष्य, संपादक: मुनि श्री पुण्यविजय, अहमदाबाद: लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, 1998*
13. *चुल्लवग्ग (बौद्ध विनयपिटक), अनुवादक: भिक्षु जगदीश कश्यप, पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1979*
14. *Vedic Index of Names and Subjects, मैकडोनेल एवं कीथ, लंदन: जॉन मरे, 1912 (भारतीय पुनर्मुद्रण: 1995)*
15. *डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था, दिल्ली: भारतीय विद्या भवन, 2013।*
16. *डॉ. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2011*
17. *डॉ. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास, दिल्ली: नई साहित्य प्रकाशन, 2010*